विषय	हिन्दी
प्रश्नपत्र सं. एवं शीर्षक	P12 : दलित साहित्य
इकाई सं. एवं शीर्षक	M 35 : निर्मला पुतुल की कविताएँ
इकाई टैग	HND_P12_M35
प्रधान निरीक्षक	प्रो. रामबक्ष जाट
प्रश्नपत्र-संयोजक	प्रो. टी.वी. कट्टीमणि
इकाई-लेखक	डॉ. गंगा सहाय मीणा
इकाई-समीक्षक	प्रो. अब्दुल अलीम
भाषा-सम्पादक	राजीव कुमार

पाठ का प्रारूप

1. पाठ का उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. आदिवासी अस्मिता का प्रश्न
4. विस्थापन का दंश
5. निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्री
6. प्रतिरोध का स्वर
7. निष्कर्ष

A Gateway to All Post Graduate Courses

1. पाठ का उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप-

- आदिवासी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों की पहचान कर सकेंगे।
- समकालीन हिन्दी कविता के विकास में निर्मला पुतुल का योगदान जान सकेंगे।
- आदिवासी समस्याओं एवं चुनौतियों की जानकारी ले पाएँगे।

2. प्रस्तावना

आज आदिवासी साहित्य हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना जाता है। हिन्दी साहित्य के अनुभव जगत को वह विस्तृत परिदृश्य प्रदान करता है। सदा से हाशिए पर रहने वाले आदिवासी समुदाय की समस्याओं एवं चुनौतियों को स्वर प्रदान करना आदिवासी साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। इस दृष्टि से आदिवासी कविताओं में आदिवासियों की समस्याओं एवं चुनौतियों को गम्भीरता से अभिव्यक्ति मिली है। इसलिए आदिवासी कविता में समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख स्वर के रूप में मान्यता मिली दिखाई पड़ती है। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, महादेव टोप्पो, रोज केरकेट्टा जैसे कई आदिवासी कवि एवं कवयित्री आज कविता-कर्म के क्षेत्र में सक्रिय नजर आते हैं। बहुत से गैर आदिवासी कवि भी हैं, जो पूरी निष्ठा के साथ आदिवासी कविता को विकसित करने में अपना योगदान दे रहे हैं।

हिन्दी में आदिवासी समुदाय या उनकी समस्याओं पर लिखी गई कविताओं का अभाव रहा है। भवानीप्रसाद मिश्र का *सतपुड़ा के घने जंगल* एवं नागार्जुन की *शालवनों के निबिड़ टापू में...* शीर्षक कविता अवश्य आदिवासियों पर लिखी गई हैं, परन्तु इसे मुख्यधारा के साहित्य में आदिवासी हस्तक्षेप के रूप में नहीं देखा जा सकता। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में पहला महत्त्वपूर्ण नाम निर्मला पुतुल का दिखाई देता है। दलित साहित्य के विकास में जो स्थान ओमप्रकाश वाल्मीकि का माना जाता है, लगभग वही स्थान आदिवासी कविता के विकास में निर्मला पुतुल का माना जा सकता है। सन्2004 में प्रकाशित उनके दो कविता संग्रह *अपने घर की तलाश में* (रमणिका फाउण्डेशन) और *नगाड़े की तरह बजते शब्द* (भारतीय ज्ञानपीठ) ने निर्मला पुतुल को एक प्रमुख आदिवासी कवयित्री के रूप में हिन्दी साहित्य में स्थापित किया। निर्मला पुतुल की कविताओं के माध्यम से पहली बार हिन्दी संसार, आदिवासी जगत के अनुभवों से परिचित हुआ। पहली बार सम्पूर्णता में आदिवासी समाज के जीवन, संस्कृति, समस्याओं एवं चुनौतियों का परिचय एवं गुरुत्व का हिन्दी संसार को पता चल पाता है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दी रचना एवं अनुभव संसार में निर्मला पुतुल की कविताओं के माध्यम से पहली बार आदिवासियत दाखिल हुई।

3. आदिवासी अस्मिता का प्रश्न

औपनिवेशिक काल से ही आदिवासियों के मूल अधिकारों का हनन होता रहा है। आदिवासियों को बुनियादी सुविधाओं के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। उनकी संस्कृति को पिछड़ा हुआ माना जाता है। कथित मुख्यधारा का दृष्टिकोण आदिवासियों के प्रति सकारात्मक नहीं रहा है, उनके लिए आदिवासी हमेशा जंगली और असभ्य ही रहे हैं। निर्मला पुतुल अपनी कविता में इस पहलू को गम्भीरता से उठाती हैं। *सबकुछ अप्रिय है उनकी नजर में* शीर्षक उनकी कविता में उल्लेख है कि गैर आदिवासियों की नजर में आदिवासियों का काला रंग, आदिवासियों की भाषा, रीति-रिवाज, चाल-चलन, पहनावा-ओढ़ावा आदि सब कुछ अप्रिय है। आदिवासियों के हाथ का छुआ पानी नहीं पी सकते, उनके हाथों का बना भोजन स्वीकार नहीं करते, अपने घरों में आदिवासियों को प्रवेश नहीं करने देते। गैर आदिवासी लोग चाहते हैं कि आदिवासी

अपनी संस्कृति त्यागकर, कथित मुख्यधारा की संस्कृति अपना लें, तभी वे 'जंगलीपन' से मुक्त होकर सभ्य बन पाएँगे। इस सन्दर्भ में निर्मला पुतुल लिखती हैं –

"मेरा सबकुछ अप्रिय है उनकी नजर में
प्रिय हैं तो बस
मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने
जंगल के फूल, फल, लकड़ियाँ
खेतों में उगी सब्जियाँ
घर की मुर्गियाँ"

(निर्मला पुतुल, *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली,पृ.73)

गैर आदिवासी समुदाय आदिवासियों को पिछड़ा मानते हुए, उनके समस्त क्रिया-कलापों एवं आचार-व्यवहार को उपेक्षित दृष्टि से देखता है, परन्तु उनकी उत्पादकता का उपयोग अपने हित में करता है। आदिवासियों के श्रम का शोषण, उनकी अस्मिता के प्रश्न को गम्भीर रूप प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध आदिवासी विद्वान रामदयाल मुण्डा ने आदिवासी अस्मिता के संकट को रेखांकित किया है कि, "किसी समुदाय की संस्कृति, उसके जीवन के पूरे दायरे (देशकाल) में अर्जित मूल्यबोध की पूंजी होती है और उसके लिए पहचान (अस्मिता, आइडेण्टिटी) के संकट का सवाल तब आता है, जब वह देखता है कि उस पर आक्रमण हो रहे हैं। जब उसकी पहचान के विघटित होने का भय उसे आतंकित करता है।" (रामदयाल मुण्डा, *आदिवासी अस्तित्व और झारखण्डी अस्मिता के सवाल*, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली,पृ.29) निर्मला पुतुल के यहाँ भी यह चिन्ता स्पष्ट दिखाई देती है। निर्मला पुतुल सन्थाल आदिवासी समुदाय से सम्बन्ध रखती हैं। झारखण्ड के जिस अंचल में वे निवास करती हैं, वह सन्थाल परगना कहलाता है। सन्थाल बहुल इस अंचल में आज सन्थालों की ही स्थिति चिन्ताजनक है। निर्मला पुतुल लिखती हैं –

"सन्थाल परगना
अब नहीं रह गया सन्थाल परगना !
बहुत कम बचे रह गए हैं
अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग"

(निर्मला पुतुल, *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, पृ. 26)

कितना भयावह है कि मूल निवासियों की संस्कृति ही हाशिए पर चली जाए और उनकी संस्कृति पर बाहर से आए लोगों का आधिपत्य हो जाए। कवयित्री उस संकट की तरफ इशारा कर रही हैं, जिससे शनैः-शनैः सन्थालों की सामुदायिक संस्कृति का ह्रास हो रहा है और बाजारवादी संस्कृति वर्चस्व पाती जा रही है। इससे सन्थालों की अस्मिता पर सवाल खड़ा होता है। इसी कारण निर्मला पुतुल की कविताओं में सन्थालों की अस्मिता का प्रश्न बार-बार आता है। वे यह भी बताती हैं कि एक तरफ गैर आदिवासी समुदाय के सांस्कृतिक वर्चस्व ने सन्थालों में हीनता बोध का विकास हुआ; दूसरी तरफ गरीबी एवं बेरोजगारी ने उन्हें गैरआदिवासियों पर आश्रित होने को मजबूर कर दिया। सांस्कृतिक एवं आर्थिक दोनों रूप से

गैरआदिवासी समुदाय का उन पर वर्चस्व है। इसी कारण सन्थाल परगना में सन्थाली संस्कृति हाशिए पर चली गई है और सन्थाल अपने ही घर में परदेशी बन गए हैं।

निर्मला पुतुल के अनुसार आदिवासी समुदाय की अस्मिता को सायास हाशिए पर धकेला गया है। इस सन्दर्भ में वह लिखती हैं –

"वे चाहते हैं हमसे
कि हम कभी कोई सवाल नहीं करे उनसे
उनकी नजर से देखें सब कुछ
उनकी ही भाषा में बोलें" (वही, पृ.34)

किसी समुदाय की अस्मिता पर अधिकार करने या उसे अनुकूलित करने के लिए सर्वाधिक आवश्यकता उस समुदाय की जीवन-दृष्टि और भाषा पर वर्चस्व कायम करने की होती है। आज आदिवासी समुदाय इन दोनों तत्त्वों के ह्रास का सामना कर रहा है। एक तरफ आदिवासी जीवन-दृष्टि को बिलकुल महत्त्वहीन माना जाता है, तो दूसरी तरफ उनकी भाषा को अनुपयोगी। ऐसे में आदिवासी समुदाय की अस्मिता पर संकट आना अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। निर्मला पुतुल अस्मिता संकट के इन पहलुओं को उजागर करने का महत्त्वपूर्ण काम अपनी कविताओं के माध्यम से करती हैं।

गैरआदिवासियों के सांस्कृतिक एवं आर्थिक वर्चस्व को निर्मला पुतुल आदिवासी अस्मिता के विघटन के लिए प्रमुख कारण मानती हैं। गैरआदिवासियों को आदिवासी 'दिकू' कहते हैं। दिकू का मतलब वे गैरआदिवासी हैं, जो आदिवासी इलाकों में बाहर से आकर बसे है। ये दिकू कभी व्यापार के नाम, पर तो कभी रोजी-रोटी की तलाश में आदिवासी इलाकों में आए और धीरे-धीरे आदिवासियों के शोषक और दोहन से सम्पन्न होते चले गए। निर्मला पुतुल दिकुओं की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए *ढेपचा के बाबू* शीर्षक कविता में लिखती हैं –

"कैसे बताएँ, अभी भी
कितना दिक्-दिकाते हैं दिकू लोग
कहते हैं झारखण्ड अलग होने से क्या होगा
सोंतार को सत्तर बरस तक बुद्धि नहीं होगा।" (वही, पृ.42)

एक तरफ उनकी कविताओं में आदिवासी संस्कृति के नष्ट होने, बिखरते चले जाने को लेकर अकुलाहट दिखती है, तो दूसरी तरफ दिकुओं की शोषणकारी भूमिका भी दिखाई देती है। *'सोंतार को सत्तर बरस तक बुद्धि नहीं होगा'* कहना दिकुओं की वर्चस्ववादी सोच को ही स्पष्ट करता है। झारखण्ड का सपना, आदिवासियों की बेहतरी से जुड़ा था, परन्तु झारखण्ड के अलग होने के बावजूद शोषण के सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं आया। आदिवासी समुदाय की समस्याएं और चुनौतियाँ जटिल से जटिलतर ही होती गईं।

4. विस्थापन का दंश

आदिवासियों के अस्मिता और अस्तित्व के संकट के पीछे सबसे बड़ी समस्या विस्थापन की है। जल, जंगल और जमीन से बेदखली आज आदिवासियों को कई प्रकार की समस्याओं के सम्मुख खड़ा करता है। रमणिका गुप्ता ने इस सन्दर्भ में लिखा, "उसकी समस्या है – जमीन से बेदखली, विस्थापन, पलायन। उसकी चाहना है –जमीन की वापसी और पुनर्वास।"

(रमणिका गुप्ता, *आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली,पृ. 122) साम्राज्य विस्तार हो या फिर उद्योग-खदानों का विकास, उसकी कीमत आदिवासियों को विस्थापित हो कर चुकाना पड़ा है। विस्थापन आदिवासी इतिहास का एक प्रमुख पहलू रहा है। विस्थापन का चरित्र प्रत्येक आदिवासी समाज में अलग-अलग प्रकार का है। यह मुख्यतः क्षेत्र विशेष पर निर्भर करता है। आदिवासी जीवन पर केन्द्रित अधिकांश उपन्यासों में विस्थापन का मुख्य कारण बड़े बाँधों का निर्माण, औद्योगिक गलियारों के विस्तार एवं खनिज पदार्थ के खदानों के रूप में दिखाई पड़ता है। सन्थाल परगना में विस्थापन एवं पलायन का चरित्र मुख्यतः गरीबी रही है। यह गरीबी मुख्यतःउनके जमीनों की बेदखली से जुड़ी है। महाजन का कर्ज चुकाने की असमर्थता, जमीन से बेदखली का मुख्य कारण है। ऐसे में उन्हें रोजगार की तलाश में अपने क्षेत्र से पलायन करना होता है। इस सन्दर्भ में निर्मला पुतुल लिखती हैं –

"हमारी मेहनत का मोल अब भी करते हैं
दूसरे आँकते हैं अक्सर कम
अब भी जाता है लखना जत्थों के
साथ असाम"

(निर्मला पुतुल, *अपने घर की तलाश में*, रमणिका फाउण्डेशन, नई दिल्ली,पृ.46)

अपनी ही जमीन से बेदखल हो, उसी जमीन पर मामूली पारिश्रमिक पर काम करने के लिए उन्हें मजबूर होना पड़ता है। महाजन का कर्ज चुकाने एवं परिवार को चलाने के लिए अक्सर आदिवासी बंगाल या असम पलायन कर जाते हैं। ऐसे में वे अपनी जमीन और परम्पराओं से भी कट जाते हैं। पलायन का दंश उनके साथ हमेशा लगा रहता है। *ढेपचा के बाबू* शीर्षक कविता में गरीबी से उपजी पलायन का दंश बेहद मार्मिक ढंग से प्रकट हुआ है। गाँव में छूट गई अकेली स्त्री अपने पति को लिखे पत्र में अपने इस दर्द को इस रूप में प्रकट करती है –

"भाग गया ढेपचा भी
अपने साथियों के साथ असम
सुगिया भी नहीं मानी
लाख समझाने बुझाने पर भी
चली गई धनकतनी में बंगाल
मुंगली, बुधनी, बटोरना के साथ
गाड़ी में बैठकर"

(निर्मला पुतुल, *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, पृ.40)

पलायन एक परिवार की संरचना को ही पूरी तरह से नष्ट कर देता है। पति के साथ बेटा–बेटी भी कमाने के लिए असम, बंगाल चले जाते हैं। यह हाल सन्थाल परगना में किसी एक आदिवासी परिवार का नहीं है, पूरे आदिवासी समाज का है। सन्थाल आदिवासी समुदाय मुख्यतः कृषक होते हैं। आज अधिकांश आदिवासियों की जमीन या तो बन्धक है,या फिर परती। पैसों के अभाव में न अपनी जमीन वे वापस पा सकते हैं और न ही उस पर कृषि कर सकते हैं। ऐसे में पूरा का पूरा आदिवासी समाज पलायन करने और सामान्य मजदूरी पर कठोर श्रम करने के लिए अभिशप्त है।

पलायन कर रोजगार की तलाश में दूसरे प्रदेश जाना या अपने ही क्षेत्र में विस्थापित होकर खदानों, ईंट भट्ठों में मजदूर बन जाना, आदिवासियों की नियति बन गई है। विस्थापित आदिवासी अनेक कोशिशों के बावजूद अपनी जड़ों की तरफ वापस नहीं लौट पाता। इस दर्द को व्यक्त करते हुए निर्मला पुतुल लिखती हैं –

"तीन बरस हो गए
अब छोटका भी पांच साल का हो गया
चितकबरी बछिया भी गाय बन गई
जंगल के कंद फल ख़त्म हो गए
महुआ का टपकना भी बन्द हो गया
बंधना, सोहराय भी गुजर गया लेकिन तुम नहीं आए।" (वही, पृ.41)

जिस परिवार की खुशियों को वापस लाने के लिए आदिवासी पलायन करते हैं, उसी परिवार से वह दूर रहने को अभिशप्त हो जाते हैं। अपने परिवार, अपनी जमीन, अपने जंगल एवं पर्व त्योहारों से दूर परदेशी का जीवन, आदिवासियों की नियति बन जाती है। एक तरफ वह वापस नहीं आ पाता और दूसरी तरफ उसके जंगल और जमीन भी उससे छिनते जाते हैं। जंगल और जमीन की लूट के साथ उसकी संस्कृति और परम्परा भी क्रमशः नष्ट होती जाती है। असल में निर्मला पुतुल यह स्पष्ट करना चाहती हैं कि विस्थापन का असर कई पीढ़ियों तक रहता है। तीन वर्ष के छोटे बेटे से लेकर ढेपचा के बूढ़े बाबू इससे प्रभावित होते हैं। विस्थापन का सामाजिक सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता है। निर्मला पुतुल की कविता में पलायन किए हुए अपने लोगों के प्रति तीव्र अकुलाहट दिखती है। वे चाहती हैं कि उनके सारे लोग वापस अपने प्रदेश आ जाएँ। वे लिखती हैं –

"जादो!
कहाँ गुम हो गए तुम सबके सब
कहाँ चले गए छोड़कर अपना देश?" *(अपने घर की तलाश में,* पृ.70)

एक तरफ निर्मला पुतुल पलायन के लिए मजबूर अपने लोगों के प्रति चिन्तित दिखाई पड़ती हैं, तो दूसरी तरफ वह पलायन की विभीषिका को भी सम्पूर्णता में सामने रखती हैं। वे गैरआदिवासी समुदाय से भी सवाल करती नजर आती हैं। विचारणीयहै कि कथित मुख्यधारा का समाज आदिवासियों की समस्याओं के प्रति पर्याप्त संवेदनशील नजर क्यों नहीं आता? फिजी, मारिशस, सूरीनाम आदि देशों में मजबूरन ले जाए गए गिरमिटिया मजदूरों की सच्चाई से हम अवगत हैं। आज उन गिरमिटिया मजदूरों के प्रति पर्याप्त चिन्ता नेतृत्वकारी वर्ग में दिखाई पड़ता है, परन्तु अपने ही घर में अजनबी बना दिए जा रहे आदिवासियों की स्थिति पर चिन्ता कम ही दिखाई पड़ती है। निर्मला पुतुल अपनी कविताओं के माध्यम से हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करने का सार्थक प्रयास करती हैं।

5. निर्मला पुतुल की कविताओं में स्त्री

आदिवासी स्त्री के बारे में सामान्य धारणा उसके स्वाभिमानी, कर्मठ, आत्मनिर्भर और स्वाधीन होने की होती है। उन्हें गैर आदिवासी एवं दलित महिलाओं की तुलना में पितृसत्तात्मक व्यवस्था से ज्यादा मुक्त माना जाता है। यह सच है कि गैर आदिवासी महिलाओं की तुलना में आदिवासी महिलाएँ ज्यादा स्वतन्त्र होती हैं, परन्तु स्त्री होने के कारण वे यहाँ भी उत्पीड़ित होती हैं। ऐसे में निर्मला पुतुल गैरआदिवासी समाज में फैली उस रोमांटिक समझ को चुनौती देती हैं जो

आदिवासी महिलाओं को पूर्णतः मुक्त मानती हैं। निर्मला पुतुल ने अपने एक लेख में लिखा है, "घर की परिधि से बाहर दूर क्षितिज तक फैली होती है, आदिवासी स्त्रियों की दुनिया। जहाँ होता है पहाड़-सा दुःख। पहाड़-सा धीरज। जंगल की सी वीरानियाँ... ।" (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, *दस्तावेज़*, अंक 13-15, पृ.167) आदिवासी स्त्रियों केइस अनदेखे पहलुओं को निर्मला पुतुल ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्ति दी है। आदिवासी स्त्रियों का उनकी सम्पूर्णता में चित्रण, उनकी कविताओं का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सन्थाली स्त्रियों की वेदना, तड़प और प्रतिरोध को उन्होंने पूरी मार्मिकता से अपनी कविताओं में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में आदिवासी स्त्रियों के शोषण को संस्थागत रूप प्रदान करने वाले आदिवासी प्रथागत नियमों का भी वे विरोध करती हैं। निर्मला पुतुल ने लिखा है, "सन्थाली औरतों के लिए कहीं कोई व्यावहारिक व्यवस्था नहीं है आदिवासी प्रथागत नियम में।" (वही, पृ.167) *कुछ मत कहो सजोनी किस्कू* शीर्षक कविता में वह लिखती हैं -

"इन गूंगे बहरों की बस्ती में
किसे पुकार रही हो सजोनी किस्कू
कहाँ लगा रही हो गुहार?
यहाँ तो जाहेर और माँझी थान के देवता भी
बिक जाते हैं बोतल भर दारू में"

(निर्मला पुतुल, *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, पृ. 24)

जाहेर थान और माँझी थान सन्थाल आदिवासी समुदाय के लिए सबसे पवित्र जगह होती है। माना जाता है कि यहाँ उनके पूर्वजों और देवताओं का वास होता है। हर सन्थाली गाँव का अपना एक जाहेर और माँझी थान होता है। गाँव एवं गाँववासियों से सम्बन्धित हर फैसला बड़े-बुजुर्गों और गाँव के प्रधान की उपस्थिति में यहीं लिया जाता है। मान्यता है कि माँझी थान में कोई भी गलत फैसला नहीं लिया जा सकता परन्तु निर्मला पुतुल बताती हैं कि आदिवासी स्त्री की मदद इसमें निवास करने वाले देवता भी नहीं कर पाते। पैसे या दारू का लालच दे कर गाँव के पंचों से निर्दोष स्त्री के विरोध में भी फैसला लिया जा सकता है। ऐसे में आदिवासी प्रथागत नियम स्त्रियों के हक़ का विरोधी ही नज़र आता है। उनके अनुसार आदिवासी प्रथागत नियम स्त्रियों को पराश्रित बनाने का ही कार्य करता है। आदिवासी सामाजिक कार्यकर्त्ता बिटिया मुर्मू ने इस सन्दर्भ में लिखा है, "हमारे समाज में महिलाओं के लिए कई कामों को करने की मनाही है, जैसे वह छप्पर नहीं छा सकती, हल नहीं चला सकती, तीर धनुष नहीं छू सकती है। यानी स्त्री हमेशा पुरुष की आश्रित बनकर ही रहेगी ताकि वह स्वयं अपने बल पर कुछ नहीं कर सके।" (सं. रमणिका गुप्ता, *युद्धरत आम आदमी*, पूर्णांक – 80, पृ.91) *कुछ मत कहो सजोनी किस्कू* शीर्षक कविता में निर्मला पुतुल इन सारी बातों का जिक्र करती हैं। इसी कविता में वे बताती हैं कि हल चलाने की धृष्टता करने वाली एक स्त्री को बैल बनाकर हल में जोता गया था। छप्पर छाने की सजा, नाक-कान काटकर दी गई। धनुष छूने और सम्पत्ति में अधिकार माँगने वाली स्त्रियों के साथ भी पशुवत व्यवहार किया गया। इसी सन्दर्भ में वह आदिवासी समाज की परम्परा में स्त्रियों के स्थान एवं उसके योगदान की भी याद दिलाती हैं। उन्होंने लिखा-

"वे भूल गए
सन्थाल-विद्रोह के समय
जब छोड़ गए थे तुम पर सारा घर-बार

तुम्हीं ने किए थे हल जोतने से लेकर
फसल काटने तक के सारे कार्य-व्यापार
तब नहीं गिरी थी उनकी पगड़ी
धरती नहीं पलटी थी तब
कटी नहीं थी किसी की नाक" *(नगाड़े की तरह बजते शब्द,* पृ.23)

आदिवासी संस्कृति श्रम पर आधारित संस्कृति है। श्रम का सर्वाधिक सम्मान आदिवासी समाज करता है, इसलिए एक समय आदिवासी परम्परा में स्त्रियों को भी बराबरी का अधिकार था। स्त्रियाँ न सिर्फ जंगलों एवं खेतों में होने वाले कार्यों में समान रूप से भागीदार थीं, बल्कि सामुदायिक फैसलों में अपना मत रखने के लिए भी स्वतन्त्र थीं। इसके विपरीत गैर आदिवासी संस्कृति से प्रभावित समकालीन आदिवासी समाज में लैंगिक आधारों पर होने वाला भेदभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आदिवासी प्रथागत नियमों का अन्धानुकरण आदिवासी महिलाओं को पुरुषों पर आश्रित बनाने वाला साबित हुआ है। इससे आदिवासी महिलाओं के चरित्र का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। इस तरह आदिवासी महिलाओं की अवस्था में होने वाला अवमूल्यन अन्ततः आदिवासी समाज के लिए ही नुकसानदेह साबित हो रहा है। इसलिए निर्मला पुतुल सन्थाली संस्कृति एवं परम्परा के उन पक्षों की पुरजोर आलोचना करती हैं, जो आज के समय में अनुकरणीय नहीं रह गए हैं। अन्य सामन्ती प्रथाओं की तरह ये प्रथाएँ भी अपने ही लोगों के शोषण पर टिकी हुई हैं, जो अमानवीय प्रतीत होती हैं।

निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री के साथ गैरआदिवासी स्त्रियों की समस्याओं को भी स्वर प्रदान करती हैं। वह समस्त स्त्री को एक जाति मानती हैं, जहाँ जाति, वर्ग या समुदाय होने से पहले हर स्त्री एक स्त्री होती है। इसलिए वे स्त्री के स्त्रीत्व की परिभाषा स्त्री-दृष्टि से चाहती हैं। वे लिखती हैं,

"क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा
अगर नहीं !
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित के परे
एक स्त्री के बारे में...?" (वही, पृ.8)

यह सदियों से यातना झेल रही उस स्त्री का दुःख है, जिसके चरित्र के स्वाभाविक विकास को हमेशा अवरुद्ध करने का प्रयास किया गया। इसलिए कवयित्री स्त्रियों को पूर्वनिर्धारित मानदण्डों पर देखने एवं तदनुसार स्त्रीत्व की परिभाषा गढ़ने की प्रक्रिया पर सवाल खड़ा करती हैं। कवयित्री चाहती हैं कि समाज में स्त्रियों को भी समान भागीदारी का अवसर दिया जाना चाहिए। उन्हें सिर्फ पत्नी या माता की भूमिका में बने रहने के लिए मजबूर न किया जाए। घर की मजबूत चहार दीवारी से उन्हें मुक्त किया जाए, ताकि उनका सहज विकास हो सके। उन्हें इतना अवसर जरूर दिया जाना चाहिए, जिससे वह देह या वस्तु मात्र से मुक्त हो कर व्यक्ति बनने की प्रक्रिया से खुद को जोड़ सके। इसलिए घर की चारदीवारी से बाहर

स्त्रियों की स्थिति के बारे में विचार करने एवं स्त्री दृष्टि से स्त्रीत्व की परिभाषा तय करने का सवाल पुरुषसत्तात्मक समाज के लिए भी गहरे आत्ममन्थन का सवाल प्रतीत होता है।

कवयित्री स्त्रियों को तथाकथित स्त्री की धारणा से मुक्त देखना चाहती हैं। कथित मर्यादाओं के बन्धन से मुक्त वह स्त्री को व्यक्ति मात्र या मानव मात्र के रूप में प्रतिष्ठित होते देखना चाहती हैं। इस सन्दर्भ में वह अपनी आकांक्षा व्यक्त करते हुए लिखती हैं-

"मैं स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखते
मुक्त होना चाहती हूँ अपनी जाति से।" (वही, पृ.9)

वह स्त्री को स्त्री जाति से मुक्त मानव जाति के रूप में देखना चाहती हैं। यह आकांक्षा एक समरस समाज बनने के सपने से भरा हुआ है जहाँ स्त्री और पुरुष की श्रेष्ठता का पैमाना लैंगिक न होकर श्रम और कार्य-कुशलता को बनाया जाएगा। इस तरह वह आदिवासी स्त्रियों के साथ तमाम वंचित स्त्रियों को भी वह अपनी कविता में स्थान देती हैं। उनकी वास्तविक चिन्ता एक स्वच्छ और समानता के मूल्यों पर आधारित समाज बनाने की है।

6. प्रतिरोध का स्वर

निर्मला पुतुल के काव्य संसार में प्रतिरोध के कई रूप दिखाई पड़ते हैं। कहीं प्रतिरोध का स्वर बहुत उग्र दिखाई पड़ता है तो कहीं संयत। कभी-कभी सदियों की यातना से जन्मा आदिवासी आक्रोश, कविता की सीमा का अतिक्रमण करता भी प्रतीत होता है। निर्मला पुतुल का मानना है कि आदिवासी समाज भी, मुख्यधारा के समाज की तरह ही महत्त्वपूर्ण है,परन्तु आदिवासी समाज को हमेशा हाशिए पर ही रहने को मजबूर किया गया। उनकी कविताओं में सदियों से चले आ रहे इस शोषणात्मक व्यवस्था के प्रति प्रतिकार का भाव दिखाई पड़ता है। वे लिखती हैं-

"जमीन की परतें तोड़कर फूटते अंकुर की तरह
फूटेगा एक दिन हमारा असन्तोष
और भड़क उठेगी आग।" (वही, पृ. 84)

निर्मला पुतुल उस व्यवस्था का अन्त चाहती हैं, जो शोषण के सम्बन्धों की संस्तुति करती है। वे चाहती हैं कि आदिवासियों को भी समाज में बराबरी का स्थान और समान अवसर मिले। आदिवासियों के श्रम की लूट को समाप्त कर, उन्हें उनका उचित हक दिया जाए। आदिवासियों की संस्कृति को तुच्छ मानकर उसे तमाशा का रूप न दिया जाए। तभी तो वे अपने सन्थाली भाइयों से यह निवेदन करती हैं कि सामान्य पारितोषिक के लालच में वे गैरआदिवासियों का अपने करतबों से मनोरंजन करने की प्रथा को बन्द कर दें। वे *घड़ा-उतार तमाशा के विरुद्ध* शीर्षक कविता में लिखती हैं-

"कर दो ऐलान कि अब नहीं होगा कभी यह तमाशा
अगर कुछ होगा तो खुले मैदान में तीरन्दाजी होगी।"

(वही, पृ.64)

यह उग्र प्रतिरोध का स्वर है। निर्मला पुतुल देखती हैं कि चन्द पैसों या समान्य कपड़ों के लालच में आदिवासी, जानवरों-सा करतब दिखाने को मजबूर होते हैं। किसी भी तरह के रोजगार एवं आय के स्त्रोत के अभाव में आदिवासियों का जीवन

दयनीय होता जा रहा है। उनके जमीन,संसाधन एवं श्रम पर एक वर्ग-विशेष का अधिकार कायम हो गया है। अतएव उस वर्ग विशेष के विरुद्ध असन्तोष फुटने को निर्मला पुतुल स्वाभाविक मानती हैं।

असहनीय शोषण और बेहद दयनीय स्थिति में रहने को मजबूर आदिवासी समुदाय की भावनाओं को अभिव्यक्ति देकर भी निर्मला पुतुल साहित्यिक संयम का निर्वाह करती हैं। वे कविता का उपयोग एक मंच के रूप में करती हैं। अपनी कविता के मंच पर आदिवासियों की त्रासदी को सामने रखती हैं एवं प्रतिकार के लिए अपने लोगों को संगठित करना चाहती हैं। वे लिखती हैं-

"वक्त है यह-
बहुत कुछ कहने सुनने, करने और गुनने का
कहो और पूरी ताकत से कहो जो कहना चाहते हो तुम।" (वही, पृ.57)

अपनी कविताओं से वे साबित करती हैं कि चिन्तन प्रक्रिया से गुजरे बिना अपनी बात पूरी ताकत से नहीं कहीं जा सकती। बात को प्रभावशाली बनाने एवं लोगों तक पहुँचाने के लिए बात करना और विचार करना आवश्यक है। आदिवासियों की समस्याओं और चुनौतियों को उसकी गहराई में समझने एवं उस पर गम्भीरता से चिन्तन-मनन करने के बाद ही वे ऐसा लिख पाई होंगी-

"करूँ कैसे नहीं विरोध
विरोध की पूरी गुंजाइश के बावजूद?" (वही, पृ.105)

प्रतिरोध के लिए उसकी सम्भावना को पूरी ऐतिहासिकता में देखना आवश्यक है। तभी उस परिस्थिति के निर्माण प्रक्रिया एवं कारणों से अवगत हुआ जा सकता है तथा विरोध को प्रभावशाली और सृजनात्मक बनाया जा सकता है। इसलिए वे कविता को महज साहित्यिक कर्म या कला कर्म नहीं मानती। आदिवासी समाज में कला भी उनके जीवन का ही एक हिस्सा होता है। इसलिए वे कवि कर्म को एक सामाजिक कर्म के रूप में देखती हैं। इस सन्दर्भ में वे लिखती हैं-

"मैं कविता नहीं
शब्दों में खुद को रचते देखती हूँ
अपनी काया से बाहर खड़ी होकर
अपना होगा।" (वही, पृ.8)

कविता महज यहाँ कला-कर्म न होकर सामाजिक दायित्व है। यहाँ शब्दों के माध्यम से एक स्त्री और आदिवासी की अभावग्रस्त और चुनौतीपूर्ण दुनिया को रचा जाता है। वह कविता में जितना सच है उतना ही वास्तविक दुनिया में भी। इस तरह कविता व्यक्तिगत कर्म होकर भी पूरे समुदाय की विश्व दृष्टि की संवाहक बन जाती है। कई-कई पात्रों में अपने आप को रचते हुए देखना, गम्भीर सामाजिक दायबद्धता बोध का सूचक है। निर्मला पुतुल की कविता आदिवासियों के प्रतिरोध की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है।

7. निष्कर्ष

निर्मला पुतुल समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य को विस्तृत करने वाली कवयित्री हैं। आदिवासी समाज के अनुभव संसार का जीवन्त चित्रण उनकी कविताओं के माध्यम से हुआ है। आज के समय में आदिवासी समाज के समक्ष खड़ी चुनौतियों का चित्रण ही निर्मला पुतुल की कविताओं में बहुतायत रूप में हुआ है।

कवयित्री की प्रमुख चिन्ता उनका आदिवासी समाज और उसकी लुप्त होती जा रही संस्कृति है। इसलिए वह आदिवासियों की दारुण दशा को अपनी कविताओं में चित्रित करती हैं और साथ ही आदिवासी समाज की उन प्रथाओं का भी विरोध करती हैं जो उनकी संस्कृति के विकास के लिए सहायक नहीं है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि "परम्परागत चीजों और रीति रिवाजों को लेकर मेरी धारणा यह रही है, जिसे मैं अक्सर अपने लोगों के बीच शिद्दत से रखती रही हूँ कि वैसी चीजें जो हमारी पहचान और अस्मिता को बनाए रखने में सहायक हैं, उन्हें हर कीमत पर बचाए रखने के लिए संघर्ष करना चाहिए और जो हमारे विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहे हों उन रीति-रिवाजों और परम्पराओं का मोह छोड़कर पूरी शक्ति से उसका सामूहिक विरोध करना चाहिए।" (रमणिका गुप्ता, आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, पृ. 52) उनकी कविताओं से भी यह भासित होता है कि आदिवासी समाज के प्रगतिशील परम्पराओं का संरक्षणऔर समाज विरोधी रीति रिवाजों का त्याग किया जाना चाहिए।

निर्मला पुतुल की कविताएँ सिर्फ आदिवासियों की दयनीय दशा का चित्रण मात्र नहीं हैं बल्कि बेहतर भविष्य की उम्मीदों से भी भरी हैं। तमाम समस्याओं एवं चुनौतियों के बावजूद, उनका स्वरूप आशावादी है। वे लिखती हैं-

"आओ, मिलकर बचाएँ
कि इस दौर में भी बचाने को
बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास।" *(नगाड़े की तरह बजते शब्द,* पृ. 77)

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि निर्मला पुतुल की कविताएँ आदिवासी मन की उपज हैं, जो इस दुनिया को बेहतर और खुशहाल रूप में देखना चाहती हैं।